भारतीय संस्कृति, शिक्षा और दर्शन

विभिन्न संकलपनाएं

सम्पादक : डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

भारतीय संस्कृति, शिक्षा और दर्शन

विभिन्न संकल्पनाएँ

सम्पादक :

डॉ. दिनेश चंद्र शर्मा

Ph.D., D.Lit. (Sub.)

निदेशक, कॉम्पिटिशन प्लस ग्रुप ऑफ इन्स्टीट्यूशन,
अजमेर

Books n Books

51/1509, आचमन, वेदविहार,
लोहाखान, अजमेर-305001

प्रकाशक :
पुष्पा शर्मा
Books n Books
51/1509, आचमन, वेदविहार,
लोहाखान, अजमेर-305001
ई-मेल : bnbajmer@gmail.com

संस्करण
प्रथम 2025

ISBN : 978 - 81 - 993854 - 7 - 4

मूल्य - 300/-

रचना -
भारतीय संस्कृति, शिक्षा और दर्शन विभिन्न संकल्पनाएँ

सम्पादक -
डॉ. दिनेश चंद्र शर्मा

आवरण -
श्रीनिवास प्रिन्टोग्राफिक्स, अजमेर

मुद्रक -
श्री श्याम ऑफसेट, किशनगढ़

महर्षि कपिल एवं सांख्य दर्शन

डॉ. किरन भदेरिया
सहायक आचार्य (समाज विज्ञान विभाग)
हुकुमचन्द नोबल इन्स्टीट्यूट ऑव साईंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

महर्षि कपिल का ऐतिहासिक निरूपण

(अ) आदि सांख्य प्रणेता कपिल :- भारतीय दर्शन के इतिहास में महर्षि कपिल का नाम अत्यन्त गौरवपूर्ण है। परम्परा के अनुसार कपिल ही सांख्य दशज़्न के आदि उपदेष्टा माने जाते हैं। किंतु संस्कृत साहित्य में कपिल नाम अनेक स्थलों पर उल्लिखित हुआ है, जिससे यह प्रश्न विद्वानों के बीच विवाद का विषय रहा है कि कौन-सा कपिल वास्तव में सांख्य दर्शन का प्रवर्तक था। यही विषय यहाँ विचारणीय है।

ऋग्वेद (10/27/16) में सर्वप्रथम कपिल का उल्लेख प्राप्त होता है। सायणाचार्य आदि आचार्यों ने यहाँ प्रयुक्त '**कपिल**' शब्द का अर्थ प्रसिद्ध कपिल मुनि किया है। इसी प्रकार ऐतरेय ब्राह्मण में '**कापिलेय**' शब्द का प्रयोग हुआ है, जिससे कुछ विद्वान यह निष्कर्ष निकालते हैं कि कपिल की सत्ता ब्राह्मणकाल से भी पूर्व सिद्ध है।

श्रीमद्‌भगवद्गीता में स्वयं श्रीकृष्ण ने कपिल मुनि को सिद्ध स्वीकार किया है—

'सिद्धानां कपिलो मुनिः' (गीता, 10/26)

श्वेताश्वतर उपनिषद में भी कपिल को सांख्य प्रणेता के रूप में स्वीकार किया गया है। इसी प्रकार महाभारत के शान्ति पर्व के मोक्ष धर्म प्रकरण में भी कपिल का उल्लेख सांख्य दर्शन के प्रवर्तक के रूप में हुआ है।

इस प्रकार वैदिक, उपनिषदिक और महाकाव्य साहित्य सभी महर्षि कपिल की ऐतिहासिक सत्ता को प्रमाणित करते हैं और उन्हें सांख्य दशज़्न का आदि प्रणेता सिद्ध करते हैं।

(ब) भारतीय वाङ्मय तथा कपिल :- भारतीय साहित्य में कपिल का नाम विभिन्न रूपों में उल्लिखित हुआ है। कहीं उन्हें ब्रह्मसुत कपिल, कहीं अग्न्यवतार कपिल, और कहीं विष्णुवतार कपिल कहा गया है।

भागवत पुराण के अनुसार कपिल मुनि देवहूति और कर्दम की संतान थे और साक्षात् अक्षर, अविनाशी भगवान विष्णु के अवतार माने गए हैं। भागवत (3.25.1) में

स्पष्ट रूप से उन्हें सांख्य का प्रथम उपदेष्टा कहा गया है। गरुड़ पुराण में भी कपिल को विष्णु का पाँचवाँ अवतार बताया गया है।

महाभारत (वनपर्व 221/20-21) में सांख्याचार्य कपिल को अग्नि का अवतार कहा गया है। कूर्म पुराण में विष्णु स्वयं कपिल की स्तुति करते हुए उन्हें 'सांख्यानां कपिलो देव:' कहकर सम्मानित करते हैं। विष्णु पुराण (3.2.55) में कपिल के लिए लिखा है कि कृते युग में वे परमज्ञान की प्रतिमूर्ति थे।

नारद पुराण (8.81) में कपिल को देवशयोगी, सांख्यनिष्ठ, ध्यान-निरत मुनीश्वर तथा तेजोराशि कहा गया है। पद्म पुराण में उन्हें सांख्याचार्य, मतिमान, ब्रह्मवर, सर्वमहर्षिपूजित और यतीश्वर की उपाधियों से विभूषित किया गया है। इसी प्रकार देवी भागवत (6.15.42) तथा भागवत (5.8) में कपिल का स्पष्ट उल्लेख सांख्याचार्य के रूप में हुआ है।

मार्कण्डेय पुराण में कपिल को ब्रह्मसुत कहा गया है। सांख्यकारिका के भाष्यकार आचार्य गौडपाद ने भी उन्हें 'भगवान् ब्रह्मसुत: कपिल:' कहकर ब्रह्मपुत्र स्वीकार किया है।

आचार्य शंकर ने श्वेताश्वतर उपनिषद (5.2) के भाष्य में कपिल का अर्थ कहीं-कहीं हिरण्यगर्भ किया है, किन्तु आगे चलकर उन्होंने स्वयं उन्हें परमर्षि कपिल माना है। ब्रह्मसूत्र भाष्य में तो शंकराचार्य ने स्पष्ट लिखा है कि—

'अन्यार्थदर्शनस्य च प्राप्ति: अहिंस्यासाधकत्वात्।'

अर्थात् श्रुति में जिन सांख्यों का उल्लेख है, वे वास्तव में प्रसिद्ध कपिल मुनि ही हैं।

लोक साहित्य में भी कपिल का उल्लेख मिलता है। गोस्वामी तुलसीदास ने अपने पद्य में कपिल मुनि का इस प्रकार स्मरण किया है—

देवहूति पुनितासुकुमारी। जो मुनि कर्दम के प्रिय नारी॥
आदि-देवप्रभु दीनदयाला। जहर धरे जेहि-कपिल कृपाला॥
सांख्य शास्त्र जिन्हें प्रगट बखाना। तत्व विचारनिपुन भगवाना॥

(स) परमर्षि कपिल की अनैतिहासिकता :- उपर्युक्त उद्धरणों एवं प्रमाणों की विपुल परंपरा इस तथ्य की साक्षी है कि सांख्य दर्शन के आदि प्रवर्तक परमर्षि कपिल ऐतिहासिक सत्ता रखते हैं। किंतु इसके विपरीत कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने, और उनके अनुयायी कुछ भारतीय विद्वानों ने, यह मत प्रकट किया है कि कपिल नामक कोई ऐतिहासिक पुरुष वास्तव में हुआ ही नहीं।

कोलब्रुक, जैकोबी, मैक्समूलर, पुलिन बिहारी चक्रवर्ती, कीथ, डॉ. राधाकृष्णन

तथा कविराज जी जैसे विद्वानों ने कपिल को अनैतिहासिक व्यक्तित्व के रूप में प्रस्तुत किया है। उनके मत में, संस्कृत साहित्य में कपिल के नाम से संबद्ध अनेक उपाधियों, विशेषणों और विविध किंवदंतियों ने एक ऐतिहासिक व्यक्तित्व की वास्तविकता को धुंधला कर दिया है। चूँकि ये विद्वान इस बहुल साहित्यिक प्रमाणों का सामंजस्य नहीं बैठा सके, अत: उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि कपिल वास्तव में कोई ऐतिहासिक महर्षि नहीं, बल्कि दार्शनिक विचारधारा को प्रतीक रूप में व्यक्त करने वाला काल्पनिक नाम मात्र है। परंतु यह दृष्टिकोण अधूरा और एकांगी प्रतीत होता है। आचार्य उदयवीर शास्त्री का यह मत अधिक तर्कसंगत है कि विशेष गुणों और उपलब्धियों के कारण यदि किसी महापुरुष का नाम विभिन्न विशेषणों या रूपों में प्रयुक्त हुआ है तो इससे उसकी ऐतिहासिकता का निषेध नहीं किया जा सकता। उदाहरणार्थ, कपिल को कहीं 'ब्रह्मसुत', कहीं 'विष्णु-अवतार', कहीं 'अग्न्यावतार' और कहीं केवल 'सांख्याचार्य' कहा गया है। किंतु ये विविध अभिधान कपिल की ऐतिहासिक सत्ता का खंडन नहीं करते, अपितु उनकी महत्ता और बहुपक्षीय स्वीकार्यता को ही रेखांकित करते हैं।

अत:, जब इतने विपुल सकारात्मक प्रमाण कपिल की ऐतिहासिकता के पक्ष में उपलब्ध हैं और उनके विरोध में कोई ठोस बाधक प्रमाण नहीं है, तो यह स्वीकार करना ही उचित होगा कि कपिल एक ऐतिहासिक व्यक्तित्व थे। सांख्य दर्शन की मूल प्रेरणा उनके व्यक्तित्व और विचारों से ही सम्बद्ध है।

(द) कपिल का काल निर्णय :- कपिल के काल-निर्णय का प्रश्न भारतीय दर्शनशास्त्रीय परंपरा में सदैव विवादास्पद बना रहा है। अनेक प्रमाणों और परंपरागत संदर्भों के बावजूद, आज तक विद्वानों द्वारा उनके जीवन-काल के विषय में कोई सर्वमान्य निष्कर्ष नहीं निकाला जा सका है। पुराणों, महाभारत और उपनिषदों के आधार पर कुछ विद्वान कपिल को 'कृतयुग' का मानते हैं। वहीं, कुछ अन्य आचार्य कृतयुग और त्रेतायुग के संधिकाल को उनका काल मानते हैं। भागवतपुराण और विष्णुपुराण में वर्णित प्रसंग कपिल को आदि युगीन सत्ता के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं। आचार्य उदयवीर शास्त्री कर्दम और देवहूति की परंपरा का उल्लेख करते हुए कपिल के काल को उपनिषद-युग से भी पूर्व ले जाते हैं।

इन समस्त दृष्टांतों से यह निर्विवाद स्पष्ट होता है कि कपिल अत्यंत प्राचीन सत्ता हैं, जिनका स्थान भारतीय ऋषि-परंपरा के आदिकाल में प्रतिष्ठित है। यद्यपि आज हमारे पास उनके काल का कोई ठोस और निर्णायक ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं है, तथापि उपलब्ध परंपरागत साक्ष्यों और पौराणिक उल्लेखों के आधार पर यही समीचीन प्रतीत होता है कि कपिल कृत-त्रेता के संधिकाल में अवतीर्ण हुए और उन्होंने देवहूति को सांख्य तत्वों का उपदेश दिया। यह काल रामायणीय और महाभारतीय युद्धों से भी

बहुत पूर्व का माना जाता है।

सांख्य-वाङ्मय

(अ) सांख्य दर्शन की प्राचीनता :- सांख्य दर्शन की प्राचीनता का निर्धारण मुख्यतः इसके प्रणेता महर्षि कपिल की प्राचीनता पर आधारित है, क्योंकि किसी कृति की प्राचीनता उसके कर्ता की प्राचीनता के अनुरूप ही मानी जाती है। उपलब्ध संकेतों और ऐतिहासिक विवेचन से यह तथ्य सिद्ध होता है कि भारतीय सार्वजनिक और सांस्कृतिक जीवन में एक समय ऐसा था जब सांख्य दर्शन सर्वव्यापी और लोकमान्य रूप से प्रतिष्ठित था।

डॉ. गार्वे ने, जिन्होंने सांख्य का गहन अध्ययन किया है, यह टिप्पणी की है कि कपिल के सिद्धांतों में संसार के इतिहास में पहली बार मानव-मन की स्वतंत्रता और अपनी आंतरिक शक्तियों में पूर्ण विश्वास का उद्घोष हुआ है। इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय संस्कृति और चिंतन की धारा में किसी काल विशेष पर सांख्य दर्शन को अत्यंत उच्च स्थान प्राप्त था।

अनेक विद्वानों का मत है कि सांख्य ही वह मूल दर्शन था जिससे अन्य दर्शन दृष्टिभेद अथवा प्रतिपादन-भेद के अनुसार विकसित हुए। मैक्समूलर और पुशल्कर जैसे विद्वानों ने सांख्य दर्शन को ही सम्पूर्ण भारतीय दार्शनिक विचारधारा का उपजीव्य माना है।

सांख्य की एक विशेषता इसका विवेकसंगत स्वरूप है। यही तर्कसम्मत विवेचन इसकी विशिष्ट पहचान है, जिसके कारण यह अत्यंत प्राचीन होने पर भी आज भी प्रासंगिक प्रतीत होता है। वैदिक साहित्य में विभिन्न स्थलों पर सांख्य के सिद्धांतों के विखरे अंश मिलते हैं, जिससे यह प्रमाणित होता है कि इसकी परंपरा अत्यंत प्राचीन रही है। वेबर ने भी सांख्य को भारतीय दर्शनों में सर्वाधिक प्राचीन माना है।

इतिहास-पुराणों में वर्णित दार्शनिक दृष्टियों से भी सांख्य की प्राचीनता उजागर होती है। महाभारत में कहा गया है— 'न हि सांख्यमं ज्ञानम्' अर्थात् सांख्य से श्रेष्ठ कोई ज्ञान नहीं है।

भीष्म ने भी एक स्थान पर उपदेश दिया है कि वेद, योग, पुराण, इतिहास आदि में जो भी ज्ञान उपलब्ध है, उसका मूल स्रोत सांख्य शास्त्र ही है। यही कथन ब्रह्मपुराण में भी किंचित भिन्न रूप में प्रतिपादित हुआ है।

इस प्रकार यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि सांख्य दर्शन भारतीय दर्शन परंपरा में सर्वाधिक प्राचीन और प्रभावशाली रहा है।

सांख्य दर्शन की प्राचीनता के पर्याप्त प्रमाण संस्कृत वाङ्मय में बिखरे पड़े हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद तथा अन्य उपनिषदों में सांख्य से संबंधित विचार भली प्रकार

परिलक्षित होते हैं। यहाँ तक कि कीथ जैसे पाश्चात्य विद्वान ने भी स्पष्ट स्वीकार किया है कि उपनिषदों में सांख्य के सिद्धांत निहित हैं। केवल उपनिषद ही नहीं, अपितु चरक संहिता, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, व्यास के ग्रंथ तथा पतंजलि योगसूत्र आदि में भी सांख्य-दर्शन के सिद्धांत और कपिल-संप्रदाय का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। यह तथ्य स्वयं इस बात का प्रमाण है कि सांख्य दर्शन का प्रसार अत्यंत प्राचीन था और भारतीय चिंतन की विविध धाराओं पर इसका प्रभाव व्याप्त रहा।

कुछ विद्वान केवल शब्द-व्युत्पत्ति के आधार पर सांख्य को अपेक्षाकृत अर्वाचीन सिद्ध करने का प्रयास करते हैं, किन्तु यह दृष्टिकोण सत्य का अनुसंधान करने में पर्याप्त नहीं है। मैक्समूलर ने इस संदर्भ में स्पष्ट कहा है कि—

''शब्द समूहों के पीछे पड़ना ही प्राचीन विचारकों को समझ लेना नहीं है; वरन् जीवन की उन समस्याओं को, जिन पर प्राचीन ऋषियों ने प्रकाश डाला है, समीप लाकर अपनी सृजनात्मक तार्किकता से समझने पर ही उनके प्रयास का यथार्थ काल निर्धारित किया जा सकता है।''

वस्तुतः शब्द पर ही बल देने वाले विद्वानों की स्थिति उस 'हीगल' द्वारा वर्णित उस पशु के समान है, जो संगीत के स्वरों को तो सुन लेता है, किन्तु उनके सामंजस्य और अंतनिर्ज़हित तालमेल को समझ नहीं पाता।

प्रायः विद्वानों के मतभेद का मूल कारण यही ''शब्द-जंजाल पर आधारित भाषा-विज्ञान की स्थूल दृष्टि'' है। किंतु यदि हम इस शब्द-परक सीमित दृष्टिकोण का त्याग कर, संस्कृत वाङ्मय में बिखरे हुए पुष्कल प्रमाणों का गहन विवेचन करें तो यह तथ्य निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि सांख्य दर्शन अत्यंत प्राचीन है।

इस विवेचन से यह भी स्पष्ट होता है कि सांख्य दर्शन न केवल महाभारत काल से पूर्व विद्यमान था, बल्कि यह भारत की दाशज़निक परंपरा की आधारशिला के रूप में व्यापक और प्रभावशाली रहा।

(ब) सांख्य दर्शन-साहित्य :- सांख्य दर्शन के ग्रंथ-साहित्य का स्वरूप अत्यंत समृद्ध माना जाता है, यद्यपि वतज़मान समय में इसका केवल आंशिक भाग ही हमारे पास उपलब्ध है। विज्ञानभिक्षु ने ठीक ही कहा है— 'कालार्क भक्षितम्' अर्थात् काल ने सांख्य के अनेक ग्रंथों को निगल लिया है। यही कारण है कि सांख्य-साहित्य का सम्यक् ऐतिहासिक निर्णय कठिन हो गया है।

सांख्य वाङ्मय के अंतर्गत प्रमुख ग्रंथ निम्नलिखित हैं—

(1) तत्त्वसमास :- इसे षष्टितंत्र भी कहा गया है। इसमें षष्टि (60) तत्त्वों का विवेचन मिलता है। विद्वानों के मत में तत्त्वसमास, षष्टितंत्र और सांख्यसूत्र किसी एक ही आचार्य की कृतियाँ प्रतीत होती हैं। किंतु उस आचार्य की पहचान और उसका काल

आज भी विवादास्पद है।

(2) षष्टितंत्र :- सांख्य सिद्धांतों का यह एक महत्वपूर्ण ग्रंथ माना जाता है। इसमें जीव, प्रकृति, पुरुष, बुद्धि, अहंकार, महत, तन्मात्राएँ, इन्द्रियाँ, और उनके पारस्परिक संबंध आदि का विस्तारपूर्वक निरूपण किया गया है।

(3) सांख्यसूत्र :- सूत्र शैली में रचित यह ग्रंथ सांख्य दर्शन का एक व्यवस्थित ग्रंथ माना जाता है। परंतु इसकी प्रामाणिकता पर विद्वानों में मतभेद है। कुछ इसे अपेक्षाकृत अर्वाचीन मानते हैं, जबकि कुछ विद्वान इसे प्राचीन परंपरा की ही कड़ी मानते हैं।

(4) सांख्यकारिका :- यह ग्रंथ ईश्वरकृष्ण कृत है और वर्तमान में उपलब्ध सर्वाधिक प्राचीन एवं प्रामाणिक सांख्य-ग्रंथ है। इसमें 72 कारिकाएँ हैं। इसमें सांख्य दर्शन के तत्त्वमीमांसा, जीव-प्रकृति संबंध, पुरुष की स्वतंत्र सत्ता, त्रिगुण, कार्य-कारण सिद्धांत, दु:ख-त्रय और मोक्ष आदि का संक्षिप्त एवं व्यवस्थित विवेचन है।

सांख्यकारिका का भाष्य गौड़पाद ने किया, जिसे 'गौड़पादभाष्य' कहते हैं। तत्पश्चात् वाचस्पति मिश्र ने 'तत्त्वकौमुदी' नामक व्याख्या लिखी। विज्ञानभिक्षु ने 'सांख्यप्रवचनभाष्य' की रचना की, जो आज तक सांख्य-व्याख्या का सर्वाधिक मान्य ग्रंथ है।

सांख्य साहित्य के रचनाकारों और उनके काल-निर्णय में पर्याप्त मतभेद है। सांख्यकारिका को छोड़कर अन्य ग्रंथों की रचना किसने की, इस पर कोई सर्वमान्य निर्णय नहीं है। डा. सूर्यकांत दासगुप्ता ने इसे अत्यंत कठिन कार्य कहा है, क्योंकि उपलब्ध ग्रंथों का केवल एक भाग ही संरक्षित है, शेष का लोप हो चुका है। इस कारण 'सांख्यग्रंथों के काल' और उनके मूल प्रवर्तक के विषय में निश्चित निष्कर्ष निकालना कठिन है।

(स) परवर्ती सांख्यीय वाङ्मय का विवेचन :- सांख्य दर्शंन की मूल प्रतिष्ठा कपिल मुनि द्वारा प्रणीत सांख्यसूत्रों पर आधारित मानी जाती है। किंतु काल के गर्भं में कपिल की मूल वाणी और सूत्रों की स्थिति स्पष्ट नहीं रह सकी। अनेक प्राचीन ग्रंथ नष्ट हो गए, जिनका उल्लेख विज्ञानभिक्षु ने ''कालार्क भक्षितम्'' कहकर किया है। अर्थात् काल रूपी सूर्य ने अनेक ग्रंथों को निगल लिया। यही कारण है कि आज हमारे सामने सांख्य का पूरा वाङ्मय नहीं है, बल्कि केवल कुछ ग्रंथ और उनके भाष्य-टीकाएँ ही उपलब्ध हैं। इन बिखरे अंशों और उपलब्ध साहित्य के आधार पर ही हम सांख्य दर्शन की परंपरा और उसके विकास को समझ सकते हैं।

सबसे पहले ध्यान देने योग्य बात यह है कि कपिल के सांख्यसूत्र अपेक्षाकृत कम प्रचलित रहे। इसके पीछे मुख्य कारण यह था कि उनका काल और देश स्पष्ट नहीं हो

सका। दर्शनशास्त्र में ग्रंथ और आचार्य का समय निर्धारण अत्यंत महत्वपूर्ण माना जाता है। जब वह धुंधला रह जाता है तो ग्रंथ के प्रति जन-आस्था भी शिथिल हो जाती है। यही स्थिति सांख्यसूत्र की रही। इसके विपरीत ईश्वर कृष्ण द्वारा प्रणीत सांख्य-कारिका संक्षिप्त, व्यवस्थित और तार्किक प्रस्तुति के कारण तत्काल लोकप्रिय हुई और पूरे भारतवर्ष में इसका प्रचार हुआ। इसीलिए परवर्ती सांख्यीय वाङ्मय का अधिकांश भाग सांख्यकारिका पर ही केन्द्रित दिखाई देता है।

सांख्य-कारिका पर समय-समय पर अनेक आचार्यों ने अपनी टीकाएँ और वृत्तियाँ लिखीं। गौड़पादाचार्य ने इसका भाष्य प्रस्तुत किया, योगानन्द ने वृत्ति लिखी, और कुलमुनि, कृष्ण मिश्र तथा भवदेव आदि विद्वानों ने भी व्याख्याएँ कीं। परंतु इन सबमें सर्वाधिक ख्याति प्राप्त हुई वाचस्पति मिश्र की 'तत्त्वकौमुदी' को। यह ग्रंथ न केवल कारिका का स्पष्ट विवेचन करता है, बल्कि सांख्य के सूक्ष्म सिद्धांतों को सरल भाषा में उद्घाटित भी करता है। वाचस्पति मिश्र की शैली गहन दार्शनिकता से युक्त होने के साथ-साथ विवेचनात्मक भी है, इसलिए यह टीका आज तक सांख्य-साहित्य का आधारभूत ग्रंथ मानी जाती है।

इसी प्रकार रामकृष्ण की 'सांख्यकौमुदी' भी उल्लेखनीय है, जो कारिका के विवेचन की दिशा में एक महत्वपूर्ण प्रयास थी। दूसरी ओर कपिल के नाम से संबद्ध सांख्यसूत्र पर भी अनेक टीकाएँ और भाष्य लिखे गए। विज्ञानभिक्षु का 'सांख्य-प्रवचन-भाष्य' इस संदर्भ में अत्यंत महत्वपूर्ण है। इसमें उन्होंने न केवल सूत्रों की व्याख्या की, बल्कि सांख्य के सिद्धांतों को अन्य दर्शनों के साथ तुलनात्मक रूप से भी प्रस्तुत किया। इसके अतिरिक्त सांख्याचार्य, योगानन्द, कृष्ण मिश्र, अनिरुद्ध, नागेश और रामचन्द्र आदि विद्वानों ने भी 'सांख्यसूत्र विवरण' और 'सांख्यसूत्र वृत्ति' नामक टीकाएँ प्रस्तुत कीं। महादेव वेदान्ती ने तो वृत्ति पर भी एक विस्तृत टीका लिखी।

इसी परंपरा में भावगणेश की 'सांख्यतत्त्व प्रदीपिका' और 'सांख्यतत्त्व-यथार्थदीपन' विशेष महत्व रखती हैं। रघुनाथ की 'सांख्यतत्त्व-विलास' और सीमानन्द की 'सांख्यतत्त्व-विवेचन' भी इसी श्रेणी की कृतियाँ हैं। विज्ञानभिक्षु ने तो 'सांख्यसार-विवेक', 'सांख्यसार' और 'ज्ञानामृत' जैसी स्वतंत्र कृतियाँ भी दीं, जो सांख्य के दार्शनिक विस्तार को और अधिक गहराई प्रदान करती हैं। सांख्यतत्त्व कौमुदी पर स्वप्नेश्वर, वंशीधर, भारतीयति और नारायणतीर्थ आदि विद्वानों ने भी अपने-अपने ढंग से टीकाएँ लिखीं। इससे यह स्पष्ट होता है कि मध्यकाल तक सांख्य-दर्शन पर एक समृद्ध टीकासाहित्य का निर्माण हो चुका था और यह परंपरा जीवंत बनी रही।

(द) पश्चात् कालीन सांख्याचार्यों की परम्परा :- सांख्य दर्शन केवल कपिल तक सीमित नहीं रहा, बल्कि उनके बाद एक लंबी परम्परा में अनेक ऋषि, आचार्य और

दार्शनिक हुए, जिन्होंने इस तत्त्वज्ञान को आगे बढ़ाया। महाभारत में सांख्याचार्यों की जो शृंखला दी गई है, वह इस परम्परा की जीवंत गवाही देती है। इस शृंखला में कपिल का नाम तो सर्वप्रथम आता ही है, किंतु उसके बाद जैगीषव्य, असित, देवल, पराशर, हारीत, उलूक, याज्ञवल्क्य, वार्षगण्य, भृगु, पंचशिख, शुकदेव, वोढु, देवल, गौतम, गर्ग, आसुरि, पुलस्त्य, सनतकुमार, कश्यप, पतञ्जलि, जनक, भद्र तथा विश्वरूप जैसे आचार्यों का उल्लेख मिलता है।

यह क्रम स्पष्ट करता है कि सांख्य कोई संक्षिप्त या सीमित धारा नहीं थी, बल्कि अनेक पीढ़ियों तक भारतीय ज्ञान-संस्कृति में इसका प्रचार और अभ्यास होता रहा। हर एक आचार्य ने अपने युग की आवश्यकताओं और बौद्धिक चुनौतियों के अनुसार इस दर्शन को व्याख्यायित किया, जिससे यह परम्परा सतत विकसित होती रही।

(य) सांख्य सूत्र :- कपिल को प्राय: सांख्यसूत्र का रचयिता माना गया है। प्राचीन परम्परा और विद्वानों का बहुमत इसी मत का समर्थन करता है। किंतु समस्या यह रही कि शताब्दियों तक सांख्यसूत्र सामान्य पठन-पाठन की धारा में नहीं रहे। फलस्वरूप इनका प्रचार सीमित हुआ और विद्वानों ने इनके उद्धरण केवल इधर-उधर ही दिए। यही कारण है कि आधुनिक युग में कुछ पाश्चात्य और भारतीय आचार्य इनके काल को लेकर सन्देह प्रकट करते हैं और इन्हें 14वीं शताब्दी की रचना मान लेते हैं। लेकिन जब हम अनिरुद्ध, विज्ञानभिक्षु और अन्य परवर्ती टीकाकारों की रचनाओं का अध्ययन करते हैं तो कहीं भी ऐसा संकेत नहीं मिलता कि सांख्यसूत्र 14वीं शताब्दी में लिखे गए हों। यदि ये वास्तव में इतने अर्वाचीन होते, तो निश्चय ही इन आचार्यों ने इसका उल्लेख किया होता। अत: यह मानना अधिक समीचीन है कि ''सांख्यसूत्रों की अर्वाचीनता'' की बात केवल मनगढ़न्त और कपोल-कल्पना है।

हाँ, यह अवश्य स्वीकार करना पड़ता है कि आज जो सांख्यसूत्र हमारे हाथ में हैं, वे शायद पूर्णतया कपिल की मौलिक रचना नहीं हैं। इनमें से कई सूत्र प्रक्षिप्त या परवर्ती भी प्रतीत होते हैं। परंतु इसके बावजूद यह संदेह नहीं किया जा सकता कि मूल कपिल-प्रणीत सांख्यसूत्र इन्हीं में समाहित और सुरक्षित हैं। अत: उपलब्ध सूत्रों में महर्षि कपिल की मौलिक वाणी अवश्य अन्तर्निहित है।

(र) सांख्यसूत्र के टीकाकार :- सांख्यसूत्रों पर परवर्ती काल में अनेक टीकाएँ लिखी गईं। इनमें प्रमुख नाम अनिरुद्ध, महादेव वेदान्ती और विज्ञानभिक्षु के हैं। इन विद्वानों ने 14वीं से 16वीं शताब्दी के मध्य सांख्यसूत्रों की व्याख्या प्रस्तुत की। अनिरुद्ध ने सूत्रों को सरल भाषा में स्पष्ट किया, महादेव वेदान्ती ने अपनी टीका में सांख्य के सिद्धांतों को वेदान्त दृष्टिकोण से भी जोड़ने का प्रयास किया, और विज्ञानभिक्षु ने ''सांख्य-प्रवचन-भाष्य'' के माध्यम से न केवल सूत्रों की व्याख्या की, बल्कि सांख्य

को एक सशक्त, तार्किक और स्वतंत्र दर्शन के रूप में पुन: प्रतिष्ठित किया।

इन टीकाकारों के कारण ही सांख्यसूत्रों का महत्व पुनर्जीवित हुआ और बाद की पीढ़ियों के लिए यह ग्रंथ उपलब्ध रह सका। यही कारण है कि जब हम सांख्य दर्शन के सिद्धांतों का अध्ययन करते हैं तो हमारा आधारभूत ग्रंथ सांख्यसूत्र ही माना जाता है।

सांख्य सिद्धान्त-एक विहंगावलोकन

(अ) सांख्य शब्द की मीमांसा :- सांख्य दर्शन के तत्त्वों को समझने से पहले उसके नाम की उत्पत्ति और अर्थ पर विचार करना आवश्यक है, क्योंकि शब्द ही दर्शन की मूल आत्मा को उद्घाटित करता है। 'सांख्य' शब्द की व्युत्पत्ति 'संख्या' से मानी जाती है, जिसमें 'अड्' प्रत्यय के योग से यह रूप बना है। संस्कृत व्याकरण की दृष्टि से संख्या शब्द सम् + ख्या (ख्यायते इति) धातु से निर्मित है। ख्या धातु का मूल अर्थ है - ज्ञान अथवा प्रकाशित होना। इस प्रकार 'संख्या' का अर्थ हुआ- सत्यज्ञान का प्राकट्य या सम्यक् ख्याति।

सांख्य शब्द में 'अण' प्रत्यय लगने से इसके कई अर्थ निकलते हैं :

(1) तमधिकृत्य कृत्यं शास्त्रम् - अर्थात वह शास्त्र, जो किसी विषय को अधिकारपूर्वक प्रतिपादित करता है।

(2) सा विद्यते अस्मिन् - अर्थात वह विद्या या तत्त्वज्ञान, जो इस दर्शन में निहित है।

(3) सा विद्यते अस्य - अर्थात वह विद्या, जो सांख्याचार्य कपिल के पास थी।

पहले दो अर्थ सांख्य को शास्त्रवाचक बनाते हैं, जबकि तीसरा अर्थ इसे आचार्यवाचक बनाता है। अत: समग्र रूप से इसका अर्थ हुआ - गणना, विचारणा और तत्वदर्शन।

विभिन्न आचार्यों और टीकाकारों ने सांख्य शब्द को भिन्न-भिन्न दृष्टियों से परिभाषित किया है :

विज्ञानभिक्षु - (महाभारत 12/306/43 के आधार पर) इसे गणना और तत्त्व-व्याख्यान से सम्बद्ध मानते हैं।

रघुनाथ तर्कवागीश (सांख्य-तत्त्व-विलास) तथा देवतीर्थ स्वामी (सांख्य-तरंग) दोनों ने सांख्य को 25 तत्त्वों का प्रतिपादन एवं उनके मनन के रूप में परिभाषित किया है।

आदि शंकराचार्य ने सांख्य को गुण-विचार और गुण से विलक्षण पुरुष-विचार का वाचक माना है। विष्णुसहनिाम की अपनी व्याख्या में शंकराचार्य ने सांख्य शब्द को शुद्ध आत्म-तत्त्व के विज्ञान के रूप में प्रस्तुत किया है।

हरिभद्र सूरि ने सांख्य को कापिल दर्शन का पर्याय माना। कीथ और गार्वे ने

योगसूत्र (4/29) और भागवत (1/15) के प्रसंख्यान शब्द के आधार पर सांख्य का तात्पर्य तत्त्व-विवेचन किया है।

इन समस्त व्याख्याओं के आलोक में यह स्पष्ट होता है कि सांख्य का मुख्य अर्थ है – बुद्धिवादी, तर्कप्रधान और तत्त्व-गणना पर आधारित दर्शन। यह केवल गणना भर नहीं, बल्कि तत्वों की गहन विवेचना और उनके माध्यम से सत्यदर्शन है। यही कारण है कि सांख्य दर्शन को अन्वीक्षिकी भी कहा गया अर्थात वह विद्या, जो वस्तुओं की गहराई से विवेचना करती है।

अंततः, सांख्य शब्द विवेकदर्शन का पर्याय सिद्ध होता है। इसका उद्देश्य केवल तर्क-वितर्क करना नहीं, बल्कि मानव-जीवन के परम लक्ष्य मोक्ष की ओर पथ-प्रदर्शन करना है। इस दृष्टि से देखा जाए तो सांख्य शब्द का प्रयोग जीवन के सर्वोच्च प्रयोजन, अर्थात आत्मज्ञान और मुक्तिप्राप्ति के साधन के रूप में किया जाता था। यही अर्थ सर्वथा समीचीन, युक्तिसंगत और तर्कसम्मत सिद्ध होता है।

(ब) सांख्यीय विचारों का तत्वमीमांसीय आलोकन :- सांख्य दर्शन का गहन अवलोकन करने पर यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि इसकी मूल धारा सदैव तत्वों की खोज और उनके परस्पर सम्बन्ध की विवेचना रही है। भारतीय दशज़्न-परम्परा में यह एक ऐसी पद्धति है जिसने एक ओर तार्किक चिन्तन का सहारा लिया तो दूसरी ओर वैदिक उपनिषदों की आत्मा को भी अक्षुण्ण रखा।

दार्शनिक इतिहास का निरीक्षण करने पर यह देखा जाता है कि विभिन्न समयों में कभी एकतत्ववाद, कभी द्वैतवाद और कभी अनेकतत्ववाद का विकास हुआ। इन सभी प्रयासों का अन्तिम लक्ष्य 'सत्' उस परम तत्त्व की खोज ही रहा है। इस दृष्टि से पाश्चात्य विचारक देकार्त्त का प्रसिद्ध कथन 'मैं सोचता हूँ, इसलिए मैं हूँ' उल्लेखनीय है। यह वाक्य दो सत्ताओं को स्वतः प्रमाणित करता है—प्रथम सत्ता चेतना या आत्मा की और दूसरी सत्ता जड़ जगत की। इसी आधार पर उन्हें पाश्चात्य द्वैतवाद का प्रवर्तक कहा जाता है।

भारतीय संदर्भ में भी वैदिक वाङ्मय और उपनिषदों में इस द्विधा का उल्लेख मिलता है। यही परम्परा आगे चलकर सांख्याचार्यों के मत में मूर्तिमान हो उठी। उन्होंने तर्क का अवलम्बन अवश्य लिया, किन्तु वेदसम्मत मार्ग से विचलित नहीं हुए। जो विद्वान सांख्य को वेदविरोधी मानते हैं, वस्तुतः वे भारतीय दर्शन की मूल आत्मा से अनभिज्ञ कहे जा सकते हैं। प्रो. हिरियन्ना का यह कथन कि ''कपिल ने अपने द्वितत्व सिद्धान्त—प्रकृति और पुरुष—का निरूपण वेद और उपनिषदों से ही लिया है'', निस्सन्देह युक्तिसंगत है।

यद्यपि कुछ विद्वान सांख्य को एकतत्ववादी सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं और

समस्त सृष्टि को प्रकृति या पुरुष के ही रूप में निरूपित करते हैं, तथापि प्राय: इसे द्वितत्ववादी ही माना जाता है। इसके वैभिन्न्य प्रमाण भारतीय साहित्य में सर्वत्र मिलते हैं।

सांख्य के अनुसार दो मूलभूत तत्व स्वीकार्य हैं—

प्रकृति - जो अचेतन, सगुण, सविकार और सक्रिय है। इसे अव्यक्त या मूल कारण कहा गया है।

पुरुष - जो चेतन, निर्गुण, निर्विकार और निष्क्रिय है। इसे अनादि, अनन्त और सर्वथा स्वतन्त्र माना गया है।

यही दोनों तत्त्व—प्रकृति और पुरुष—इस जगत के आधार हैं। इनका यथार्थ ज्ञान ही मोक्ष का साधन है। अत: सांख्याचार्यों ने इसे गूढ़ और परमरहस्य बताया है, जिसे योगीजन भी सहज में नहीं जान सकते। प्राचीन मुनि और तत्वद्रष्टा इस द्वैत के रहस्य से मुग्ध बताए गये हैं।

इसीलिए सांख्य का यह सर्वमान्य अभ्युपगम है कि 'प्रकृति आप्रलयं तिष्ठति''— अर्थात् प्रकृति अनन्तकाल तक स्थित रहती है, और इसके विपरीत जो सत्ता है वही पुरुष है। यह द्वितत्ववाद सांख्य दर्शन का अनिवार्य अंग है और इसका तत्वमीमांसीय विवेचन आगे विस्तार से प्रस्तुत किया जाता है।

(1) पुरुष :- सांख्य दर्शन में पुरुष को सर्वोच्च, स्वतंत्र और चेतन सत्ता के रूप में स्वीकार किया गया है। वह नित्य, अजन्मा, शुद्ध और बुद्ध स्वरूप है। उसका स्वभाव मुक्त है, और वही साक्षात् ज्ञ (ज्ञानस्वरूप) कहा गया है। पुरुष काल और देश की मर्यादाओं से परे है; उसमें कोई परिवर्तन या विकार नहीं होता। वह केवल दर्शक (साक्षी) है—न कर्ता, न भोक्ता, न भोग्य। उसका चैतन्य कोई गुण नहीं, बल्कि उसका स्वभाव ही है। इसीलिए पुरुष में अनाश्रितत्व (किसी पर निर्भर न होना), अलिंगत्व (लक्षणहीन होना), निरवयवत्व (अवयवहीन होना), स्वतन्त्रता, विवेक, चेतनता, मोक्ष, दृष्टत्व (साक्षित्व) तथा अकतृत्व जैसे सभी धर्म अन्तर्निहित माने गये हैं।

सांख्याचार्यों ने पुरुष की सत्ता को सिद्ध करने के लिए ठोस प्रमाण प्रस्तुत किये। कपिल (सूत्र 1/141) और ईश्वरकृष्ण (सांख्यकारिका, कारिका 17) दोनों ने ही पुरुष-सत्ता के पाँच हेतु बताये हैं। दोनों में समानता है।

प्रथम हेतु - परमर्षि कपिल ने प्रथम हेतु दिया है- **संहतपदार्थत्वात्**

कपिल कहते हैं कि समस्त जगत् का प्रत्येक पदार्थ किसी न किसी के उपयोग के लिए है। प्रकृति के सभी संघात (संकलन) परार्थ—अर्थात् दूसरों के लिए—निर्मित होते हैं। वस्त्र स्वयं वस्त्र धारण नहीं करता, नदी स्वयं अपना जल नहीं पीती, वृक्ष अपने फल स्वयं नहीं खाते, मेघ अपने ही सुख के लिए वर्षा नहीं करते। इन सबका अस्तित्व दूसरों के कल्याण के लिए है। यदि सब पदार्थ परार्थ हैं, तो प्रश्न उठता है कि ये किसके लिए

हैं? इसका उत्तर स्पष्ट है—ये जड़ पदार्थ किसी चेतन सत्ता के लिए ही हैं। जड़ जड़ के लिए कभी उपयोगी नहीं हो सकता। इसलिए उस चेतन सत्ता को मानना पड़ेगा, जिसे सांख्य 'पुरुष' कहता है।

गौडपाद ने भी इसका समर्थन करते हुए पलंग का दृष्टान्त दिया—पलंग स्वयं उस पर नहीं सोता, अपितु कोई अन्य चेतन प्राणी उस पर शयन करता है। यही तर्क पुरुष के अस्तित्व को सिद्ध करता है।

द्वितीय हेतु- त्रिगुणादिविपर्ययात

प्रथम हेतु के आधार पर ही दूसरा कारण सामने आता है। सांख्य मानता है कि प्रकृति तीन गुणों—सत्त्व, रजस और तमस से युक्त है। यदि केवल यही तीन गुण होते और इनके परे कुछ न होता, तो जगत केवल गुण-परिवर्तन तक सीमित रह जाता।

किन्तु अनुभव बताता है कि इन गुणों से भिन्न, उनसे परे, कोई सत्ता अवश्य है, जो इनका साक्षी है, उपभोक्ता है। यदि वह सत्ता भी त्रिगुणात्मक होती, तो प्रकृति से अलग न मानी जाती। अत: कोई त्रिगुणातीत सत्ता आवश्यक है, और वही सांख्य दर्शन का 'पुरुष' है।

तीसरा हेतु- ''अधिष्ठानाच्चेति''

द्वितीय हेतु से पहले ही यह सिद्ध हो चुका था कि प्रकृति त्रिगुणात्मक (सत्त्व, रजस्, तमस्) है और इसका भोग करने वाला उससे भिन्न होना चाहिए। तृतीय हेतु (अधिष्ठान से) दूसरे हेतु का पूरक है। यदि प्रकृति मात्र गुणों का संघात है तो उसमें स्वयं कोई व्यवस्था और समन्वय सम्भव नहीं। गुणों का परस्पर विरोधी स्वभाव होने पर भी जगत् में एक नियमितता और क्रम दृष्ट होता है। यह क्रम और व्यवस्था तभी सम्भव है जब इसके पीछे कोई ऐसा नियामक अधिष्ठाता हो। विद्वान् हिरियन्ना ने इस हेतु को व्यवस्था-आश्रित युक्ति कहा है, क्योंकि यह प्रकृति के भीतर दृष्ट व्यवस्था को देखकर उसके नियामक पुरुष के अस्तित्व की पुष्टि करता है।

इस हेतु से स्पष्ट है कि प्रकृति को व्यवस्थित करने वाला एक शाश्वत, नित्य, द्रष्टा तत्त्व होना चाहिए। वही तत्त्व पुरुष है, जो स्वयं गुणातीत, चेतन और निष्क्रिय होकर केवल दर्शक-मात्र है।

चौथा हेतु - भोक्तृभावात

इस नानात्म जगत (विविध रूपों वाला विश्व) में केवल भोग्य पदार्थ (प्रकृति और उसके विविध विकार) ही नहीं हैं, बल्कि इनके लिए कोई भोक्ता भी आवश्यक है। यदि भोक्ता न हो, तो भोग्य पदार्थों की कोई प्रयोजनता नहीं रह जाती। चूँकि प्रकृति जड़ है, अत: वह स्वयं अपना भोग नहीं कर सकती। अत: भोग्य पदार्थों हेतु एक भोक्ता चाहिए, और वह भोक्ता है चेतन पुरुष।

श्वेताश्वतर उपनिषद् (1.12) में कहा गया है–

भोक्ता भोग्य प्रेरितांर च मत्वा सर्वं प्रोक्त त्रिविधं ब्रह्ममेतत्।

अर्थात् इस सृष्टि का त्रिविध विभाजन है – भोग्य (प्रकृति और उसके विकार), भोक्ता (जीव-पुरुष), प्रेरक (नियन्ता परमात्मा)। इस हेतु में सांख्याचार्य ने प्रयोजनता पर आश्रित युक्ति का प्रयोग किया है।

इसका तात्पर्य यह है कि भोग्य पदार्थों का अस्तित्व तभी सार्थक है जब उनका भोक्ता भी हो। जैसे भोजन का अस्तित्व तभी उचित है जब उसे खाने वाला हो, उसी प्रकार जगत् के भोग्य पदार्थ तभी सार्थक हैं जब उनका भोक्ता पुरुष हो।

डा. अणिमा सेन ने उपर्युक्त चार हेतुओं (दृश्यत्वात्, त्रिगुणात्, अधिष्ठानात् और भोक्तृभावात्) को सृष्टि का मुख्य प्रयोजन कहा है। उनका कहना है कि इन चारों से यह स्पष्ट होता है कि प्रकृति का उद्देश्य तभी पूर्ण होता है जब एक चेतन पुरुष उसके साथ संबद्ध माना जाए।

पांचवा हेतु – कैवल्यार्थ प्रवृत्तेश्च'

संसार में दु:खों से निवृत्ति का ही नाम मोक्ष अथवा कैवल्य है। सांख्य दर्शंन में इसे ही अत्यन्त पुरुषार्थ माना गया है। इस हेतु से यह सिद्ध होता है कि जो मुक्त होना चाहता है, वह उस सत्ता से भिन्न होना चाहिए जिससे वह मुक्त होना चाहता है। दूसरे शब्दों में, जो मनुष्य दु:खों से बचने के लिए प्रवृत्त होता है, उसका अस्तित्व दु:खात्मक प्रकृति से पृथक् ही होना चाहिए। यही पृथक् सत्ता सांख्य के अनुसार चेतन पुरुष है।

डा. अणिमा सेन गुप्त ने इस हेतु को ऑन्टोलॉजिकल तर्क की संज्ञा दी है। इसे सरल भाषा में इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि जैसे साधना के लिए साधक का होना अनिवार्य है, वैसे ही मोक्ष की प्राप्ति के लिए साधक सत्ता आवश्यक है। वही साधक सांख्य दर्शन का पुरुष है।

यहाँ यह प्रसंगोपात है कि पुरुष से अभिप्राय क्या है? सांख्यकारों ने पुरुष शब्द का प्रयोग जीवात्मा और परमात्मा दोनों के लिए किया है। किन्तु आगे की विवेचना में इसे केवल जीवात्मा के रूप में ही ग्रहण किया जाएगा, क्योंकि सांख्य के अनुसार यही जीवात्माएँ भोक्ता हैं और उनकी संख्या अनन्त है।

व्यवहार में यह बात स्पष्ट दिखाई देती है कि एक व्यक्ति सुखी है तो दूसरा दु:खी, एक सोता है तो दूसरा जाग रहा है। यदि पुरुष केवल एक ही होता तो प्रकृति-व्यापारों में एक के हँसने पर सबको हँसना चाहिए था और एक के शरीरत्याग करने पर सबके शरीरों का अंत हो जाना चाहिए था। परन्तु हम प्रत्यक्ष अनुभव से नित्य देखते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति के भाव, विचार और कमज़ अलग-अलग होते हैं और उनका फ्ल भी वही अकेला भोगता है। यहाँ तक कि एक ही पिता की चार संतानों में भी गुण, स्वभाव और

कमोर्ज़ में भिन्नता पाई जाती है। यदि आत्मा केवल एक ही होती तो ऐसी भिन्नता का अस्तित्व सम्भव न होता।

यदि कोई यह तर्क करे कि यह भिन्नता केवल प्रकृति के संसर्ग के कारण उत्पन्न होती है, तो यह तर्क उचित नहीं ठहरता। क्योंकि प्रकृति का संसर्ग तो समान रूप से एक ही पिता की चारों संतानें पाती हैं, फिर भी वे सब भिन्न-भिन्न स्वभाव और गुणों वाली होती हैं। इस प्रकार यह तथ्य भली-भाँति सिद्ध हो जाता है कि आत्माएँ अनन्त हैं।

कीथ जैसे कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने सांख्य दर्शन के नानात्म जीवपुरुष सिद्धान्त को दार्शनिक असंगति कहा है। लेकिन उनका यह कथन किसी भी प्रकार से उचित और तर्कसंगत नहीं कहा जा सकता। वस्तुत: सांख्य का यह सिद्धान्त सुविचारित और प्रत्यक्ष अनुभव पर आधारित है।

डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने जीवात्मा को स्वतंत्र आत्मा न मानकर यंत्र-न्यास अर्थात् पुरुष और प्रकृति का सम्मिश्रण माना है। किन्तु यह मत सांख्य दर्शन की मूल भावना के विपरीत और पूर्णतया अग्राह्य है। यदि यह मान भी लिया जाए कि जीवात्मा पुरुष और प्रकृति के संयोग से उत्पन्न होती है, तो परिणाम यह होगा कि जब सभी जीवात्माएँ मोक्ष को प्राप्त कर लेंगी, तब सब आत्माएँ मुक्त हो जाएँगी। इस दशा में व्यवहार में जो भिन्न-भिन्न आत्माओं के बन्धन और मोक्ष के विविध अनुभव मिलते हैं, वे असंभव हो जाएँगे। इतना ही नहीं, तब सांख्य का प्रकृति-विकास भी सम्भव न रहेगा। ऐसा प्रतीत होता है कि डॉ. राधाकृष्णन की यह धारणा मध्यकालीन सांख्य भाष्यकारों की व्याख्याओं से प्रभावित है।

सांख्यसूत्र (1/150) में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि जन्म, मरण आदि के कारण पुरुष बहुत्व को स्वीकार करना ही पड़ता है। यहाँ पुरुष बहुत्व को अनादि सिद्ध किया गया है। इस प्रकार यह तथ्य स्वयं डॉ. राधाकृष्णन के मत का खण्डन कर देता है। क्योंकि यदि जीवात्माएँ केवल पुरुष और प्रकृति के संसर्ग से उत्पन्न होतीं, तो वे अनादि कैसे कही जा सकती थीं? तब तो वे नश्वर और मर्यादित हो जातीं। जब पुरुष और प्रकृति का संसर्ग हट जाता, तो ऐसी जीवात्माएँ भी नष्ट हो जातीं, जो कि सांख्य के विचारों के पूर्णत: प्रतिकूल है।

कुछ विद्वान यह मानते हैं कि जीवात्मा शुद्ध पुरुष का प्रकृति, विशेषत: बुद्धि, के संसर्ग का परिणाम है। लेकिन यह मत भी सांख्य की मौलिक विचारधारा का अतिक्रमण करता है। बुद्धि अवश्य ही जीवात्मा को भ्रमित करती है, और इसी भ्रम से उत्पन्न विक्षेप का निवारण ही मोक्ष है। किन्तु यह कहना कि मोक्ष और बन्धन शुद्ध पुरुष की अवस्थाएँ हैं, सांख्य इसे कभी स्वीकार नहीं करता। क्योंकि शुद्ध पुरुष तो नित्य, अशरीरी और चैतन्य मात्र है, उसमें बन्धन या मोक्ष का प्रश्न ही नहीं उठता।

यह विचारधारा वेदान्त से प्रभावित कुछ मध्यकालीन आचार्यों, जैसे विज्ञानभिक्षु आदि, का प्रयास है। उनके मत में पुरुष और बुद्धि का संसर्ग ही जीवात्मा का कारण है। परन्तु सांख्य की दृष्टि से आत्मा तो नित्य भोक्ता है। कर्मफल का अनुभव उसी को करना पड़ता है। बुद्धि कभी भी भोक्ता नहीं कही जा सकती, क्योंकि बुद्धि तो स्वयं प्रकृति का विकार है और इस प्रकार भोग्या है, भोक्ता नहीं।

कपिल मुनि ने 'चिदवसानो भोग:' सूत्र के माध्यम से जीवात्मा के भोक्तृत्व का निरूपण किया है। सांख्यसूत्र (1/107) के अनुसार जीवात्मा में कर्तृत्व और भोक्तृत्व का जो अनुभव होता है, वह वस्तुत: अविवेक के कारण है। इस दृष्टि से वह मत, जिसमें बुद्धि को कर्ता माना गया है, पूर्णरूपेण खण्डित हो जाता है। वास्तव में सांख्य के अनुसार बुद्धि जड़ है, अत: उसमें कर्तृत्व और भोक्तृत्व की कल्पना करना समीचीन नहीं है।

अनिरुद्ध ने सूत्र (1/98) में जीव की व्याख्या इस प्रकार की है- ''वायु-युक्तों बुद्धयादिर्जीव:'' अर्थात वायु से युक्त बुद्धि आदि का नाम जीव है। परंतु यह मत भी सांख्य के सिद्धान्तों के अनुकूल नहीं है, क्योंकि इससे जीव की उत्पत्ति का निष्कर्ष निकलता है। सांख्य दर्शन के अनुसार जीवात्मा अनादि और नित्य है, उसकी उत्पत्ति मान्य नहीं है। हाँ, जीव को जीवात्मा के अर्थ में स्वीकार किया जा सकता है, क्योंकि छान्दोग्य उपनिषद् (6/11), श्वेताश्वतर उपनिषद् (5/9) और ऋग्वेद (10/78/9) में इसी प्रकार का विवेचन मिलता है। लेकिन जहाँ कहीं भी जीव की उत्पत्ति का उल्लेख आता है, वहाँ उसे सांख्य की दृष्टि से असंगत मानकर खण्डित ही समझना चाहिए।

विज्ञानभिक्षु ने यद्यपि अनिरुद्ध के इस मत को नहीं स्वीकारा, किन्तु उन्होंने जीव को अन्त:करण में प्रतिबिम्बित चेतना माना है। परन्तु यह मत भी पूर्व विद्वानों के मत की भाँति ही खण्डित हो जाता है, क्योंकि शुद्ध चेतना का प्रतिबिम्ब ही जीव है, यह धारणा सांख्य के मूल तत्त्वज्ञान से मेल नहीं खाती।

इन सभी विवेचनों से यह निष्कर्ष निकलता है कि सांख्य दर्शन पुरुष शब्द का प्रयोग दो अर्थों में करता है-

(1) एक विश्व-नियन्ता, सृष्टि-अधिष्ठाता, परमात्मा, और

(2) दूसरा अनेक जीवात्माएँ, जो देहाधिष्ठाता, अल्पज्ञ, परिच्छिन्न और भोक्ता हैं।

पुरुष का शाब्दिक अर्थ है- पुरु शेति पुरुष: अर्थात जो पुरु, अर्थात् जो पुर (शरीर) में निवास करता है वही पुरुष है। इस दृष्टि से परमपुरुष सम्पूर्ण सृष्टिरूपी देह में निवास करता है, जबकि इतर पुरुष अथवा जीवात्मा व्यक्तिगत शरीररूपी देह में रहता है।

(2) प्रकृति :- प्रकृति शब्द की व्युत्पत्ति धातु और प्रत्यय से की जाती है- 'प्रकर्षेण क्रियते सर्व जगदनया इति प्रकृति:।' अर्थात् जिसके द्वारा समस्त जगत् की उत्पत्ति होती है, वही प्रकृति है। यह एक अचेतन तत्व है, जो संपूर्ण जगत् का मूल

उपादान कारण माना गया है।

ब्रह्मवैवर्त और देवीभागवत (नवम स्कन्ध, प्रथम अध्याय, 7/8) में प्रकृति की एक सुंदर व्याख्या इस प्रकार की गई है- ''प्रकर्षेण धीयते, अन्तर्लीयते सर्वजगत् यस्मिन् तत्', अर्थात् जिसमें संपूर्ण जगत अन्ततः लीन हो जाता है। इसी कारण इसे प्रधान भी कहा गया। विज्ञानभिक्षु ने 'प्रधीयते' धातु से इसका व्युत्पादन करते हुए इसे प्रधान माना है। श्रुति में भी प्रकृति को प्रधान कहा गया है- 'श्रुतिरपि प्रधानकार्यत्वस्व'।

लोकाचार्य ने इसके विविध नामों की विवेचना करते हुए लिखा है- इसे प्रकृति कहते हैं, क्योंकि यह सभी परिवर्तनों का उद्‌भव-स्थान है। इसे अविद्या कहा जाता है, क्योंकि यह ज्ञान के प्रतिकूल है। इसे माया कहते हैं, क्योंकि यह चित्र-विचित्र सृष्टि का कारण है।

वास्तव में प्रकृति जड़ (अचेतन) जगत की प्रसू है। उसकी विकृति ही इस दृश्य सृष्टि का कारण है। यह सम्पूर्ण विश्व का मूल कारण है, केवल उत्पत्ति-नाशरहित पुरुष को छोड़कर। जो कुछ भी भौतिक है- चाहे भूत-द्रव्य हों या शक्तियाँ, सब प्रकृति से ही उत्पन्न हुए हैं। यही प्रकृति भोक्ता पुरुष के लिए क्रीड़ा-स्थली है और अंततः मोक्ष-प्राप्ति में सहायक है। क्योंकि यही प्रकृति स्वयं को विविध रूपों में परिणत करती है, इसलिए इसे परिणामिनी भी कहा जाता है।

यूनानी दार्शनिक प्लेटो ने भी इसी भाव को व्यक्त करते हुए प्रकृति को समस्त भौतिक आकृतियों का एक सार्वभौम अदृश्य आदिरीत माना है।

सांख्याचार्यों का मत है कि प्रकृति की मूल अवस्था साम्यावस्था है। जब सत्य (सत्त्व), रजस और तमस- ये तीनों गुण परस्पर साम्यावस्था में होते हैं, तब उसे प्रकृति कहा जाता है। इस अवस्था में जब चेतन पुरुष द्वारा विक्षोभ उत्पन्न होता है, तभी सृष्टि का विकास आरम्भ होता है। यह विकास-प्रक्रिया तब तक चलती रहती है, जब तक कोई आन्तरिक या बाह्य अवरोध उपस्थित न हो।

जिस प्रकार पुरुष की सत्ता को प्रमाणों द्वारा सिद्ध किया जाता है, उसी प्रकार प्रकृति की भी सिद्धि पाँच प्रमाणों से की जाती है-

(1) प्रथम तर्क :- जगत की सभी वस्तुएँ सीमित, परतन्त्र, सापेक्ष और सान्त हैं। अतः इनका कारण अवश्य ही असीम, अव्यक्त और मूलभूत प्रकृति तत्व होना चाहिए।

(2) द्वितीय तर्क :- महत्तत्वादि कार्यों का कोई अव्यक्त कारण होना आवश्यक है। भिन्न-भिन्न जगत की वस्तुओं को एक सूत्र में बाँधने वाला तत्व वही मूल कारण है और वही प्रकृति है।

(3) तृतीय तर्क :- प्रत्येक कार्य उस कारण से उत्पन्न होता है, जिसमें वह कार्य

बीज रूप में निहित रहता है। चूँकि जगत के विकास की शक्ति उसके कारण में होनी चाहिए, अतः वह शक्ति प्रकृति ही है।

(4) चतुर्थ तर्क :- प्रत्येक कार्य का एक कारण होता है और कारण एवं कार्य परस्पर भिन्न होते हैं। जब सम्पूर्ण जगत एक कार्य है, तो उसका कारण भी होना चाहिए, वही कारण प्रकृति है।

(5) पंचम तर्क :- कारण और कार्य में तादात्म्य होता है। कार्य अपने कारण में लीन होकर एक हो जाता है और विभक्त होकर अनेक रूपों में प्रकट होता है। चूँकि जगत अन्ततः प्रकृति में लीन हो जाता है, इसलिए प्रकृति की सत्ता सिद्ध होती है।

(3) पुरुष और प्रकृति का द्वैत :- सांख्य दर्शन के अनुसार दो सत्ताएँ नित्य मानी जाती हैं- एक चेतन (पुरुष) और दूसरी जड़ (प्रकृति)। यही सांख्य का मूल द्वैत-सिद्धान्त है। विद्वानों को यह सिद्धान्त प्रथम दृष्टि में क्लिष्ट और भ्रामक प्रतीत होता है, किन्तु वास्तव में यह क्लिष्टता बाह्य ही अधिक है, जो मुख्यतः परवर्ती सांख्याचार्यों की व्याख्याओं के कारण मूल सांख्य पर आरोपित हो गई।

अक्सर ऐसा देखा गया है कि किसी भी दर्शन के मूल आचार्य के विचार बाद के आचार्यों की व्याख्याओं और मतभेदों के बीच ओझल हो जाते हैं। उदाहरणस्वरूप, अद्वैत वेदान्त से सम्बन्धित कई विचार, भले ही वे शंकर के बाद के हों, परन्तु उन्हें शंकराचार्य के नाम से जोड़ा जाता है। उसी प्रकार बहुत कुछ कपिल के साथ भी घटित हुआ। परिणामस्वरूप, कपिल के वास्तविक विचार पीछे चले गये और परवर्ती आचार्यों के मत ही उनके नाम से प्रचलित हो गये। यही कारण है कि शंकराचार्य ने भी सांख्य मत का खण्डन करते समय कपिल के मौलिक विचारों की अपेक्षा परवर्ती सांख्याचार्यों की धारणाओं को लक्ष्य बनाया।

सांख्य मत में प्रकृति को आत्मपुरुष की सेवा और उसकी मुक्ति के लिए जगतरूप में प्रकट माना गया है। लेकिन आचार्य शंकर ने इस प्रकृति को अवैदिक ठहराया। वस्तुतः ऐसा मानना युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि वैदिक साहित्य में प्रकृति विषयक पुष्कल विवेचन उपलब्ध है।

श्वेताश्वतर उपनिषद में प्रकृति को स्पष्ट रूप से ब्रह्म की शक्ति कहा गया है- 'देवाम्मशक्तिः स्वगुणैर्निगूढा' अर्थात् प्रकृति ब्रह्म की शक्ति है जो अपने गुणों में आवृत्त है। इसी उपनिषद में एक अन्य स्थान पर कहा गया है- 'अजामैकां लोहितशुक्लकृष्णां बहवीः प्रजाः सृजनानां स्वरूपाः' यहाँ अजामेका (प्रकृति) को तीन गुणात्मक रूपों- लाल (रजस), श्वेत (सत्त्व) और कृष्ण (तमस) में वर्णित किया गया है, जो अनेक प्रकार की सृष्टियों का निर्माण करती है।

इसी प्रकार अन्य वैदिक ग्रन्थों में भी प्रकृति का उल्लेख मिलता है- कठोपनिषद

(1/3/11), छान्दोग्य उपनिषद (6/4/7), प्रश्नोपनिषद (4/8), बृहदारण्यक उपनिषद (1/4/15, 1/2/5, 1/4/6)। महाभारत (12/306/27-29; 12/347/14; 13/11/21; 14/20/24) में भी सांख्य-सिद्ध प्रकृति का वर्णन भली प्रकार किया गया है। ब्रह्मवैवर्त पुराण, देवीभागवत और श्रीमद्‌भागवत पुराण में भी प्रकृति का निरूपण मिलता है, जो कपिल के विचारों के अनुकूल है।

वेदों की ओर दृष्टि डालें तो वहाँ भी हमें सांख्य द्वारा प्रतिपादित प्रकृति का वर्णन देखने को मिलता है। आधुनिक विद्वानों में डॉ. पाण्डे, मैक्डानल, पुशल्कर, हरिणी, इयूसॉ, ब्लूमफील्ड, विन्टरनिट्ज आदि सभी विद्वान इस मत का समर्थन करते हैं कि प्रकृति का आधार वैदिक साहित्य में ही निहित है।

सम्यक विवेचन करने पर यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि सांख्य की प्रकृति वैदिक है, न कि अवैदिक। डॉ. आद्याप्रसाद ने भी उचित ही कहा है कि शंकराचार्य के भागीरथ प्रयास के बावजूद यह सिद्ध नहीं होता कि सांख्याचार्यों की प्रकृति अश्रौत या अवैदिक है।

अत: जब प्रकृति वैदिक है और पुरुष का स्वरूप भी श्रौत-वर्णन के अनुरूप है, तब पुरुष-प्रकृति का द्वैत-सिद्धान्त कैसे अवैदिक या अश्रौत माना जा सकता है? समस्या केवल तब उत्पन्न होती है जब किसी तथ्य की व्याख्या अपने मत के आधार पर करने का प्रयास किया जाता है।

सांख्य के अनुसार प्रकृति सदैव सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीनों गुणों की साम्यावस्था में रहती है। यह अवस्था संतुलन की स्थिति है, जहाँ कोई सृष्टि-प्रक्रिया नहीं होती। लेकिन जब प्रकृति चेतन तत्त्व अर्थात् परमात्म पुरुष के सम्पर्क में आती है, तब उस साम्यावस्था में विक्षोभ उत्पन्न हो जाता है। यही विक्षोभ सृष्टि की प्रक्रिया का कारण बनता है।

कपिल ने यह स्पष्ट कहा है कि प्रकृति की प्रवृत्ति स्वत: नहीं है क्योंकि वह जड़ है। जड़ तत्त्व कभी स्वत: गति नहीं कर सकता। अत: प्रकृति का विकास तभी सम्भव है जब वह चेतन तत्त्व के अधिष्ठातृत्व में संचालित हो। यहाँ पुरुष निमित्त कारण के रूप में कार्य करता है।

कपिल के शिष्य पंचशिख ने भी इसी तथ्य को स्वीकार करते हुए कहा है- 'पुरुषाधिष्ठितं प्रधानं प्रवर्तते। अर्थात् प्रकृति का प्रधान (प्रकृति) पुरुष के अधिष्ठान में ही प्रवृत्त होता है।

इससे यह प्रमाणित होता है कि सृष्टि के मूल में पुरुष की प्रेरणा या अधिष्ठान आवश्यक है।

आचार्यं वार्षगण्य ने इस विचार से असहमति प्रकट की। उनके अनुसार-

''प्रधानप्रवृत्तिरप्रत्यया पुरुषेणापरिगृहयमाणादिसर्गे वर्त्तते।''

अर्थात् प्रकृति की प्रवृत्ति में पुरुष का कोई अनुग्रह नहीं होता। बिना किसी प्रकार के ज्ञान, प्रेरणा या संकल्प के भी प्रकृति का विकास होता है।

यहाँ वार्षगण्य प्रकृति को स्वतः प्रवृत्त मानते हैं, जबकि कपिल और पंचशिख उसे पुरुष के अधिष्ठान के बिना गतिमान नहीं मानते।

आचार्य शंकर ने भी सांख्य का खण्डन करते हुए प्रकृति को अवैदिक और स्वतः प्रवृत्त मान लिया। परन्तु पं. उदयवीर शास्त्री का मानना है कि शंकर ने वास्तव में कपिल के मूल विचारों को नहीं, बल्कि कपिल के नाम से प्रचलित परवर्ती मतों और बौद्धों की धारणाओं को लक्ष्य कर खण्डन किया। इस भ्रांति के दो कारण हो सकते हैं- (1) कपिल के मूल सांख्यसूत्र का उस समय व्यापक प्रचलन न होना। (2) कपिल के नाम से भिन्न-भिन्न सांख्याचार्यों के मतों का प्रसिद्ध होना।

यहाँ एक शंका उत्पन्न होती है कि जब पुरुष निष्क्रिय है तो वह जड़ प्रकृति को गतिमान कैसे कर सकता है?

सांख्य इसका उत्तर इस प्रकार देता है-

पुरुष स्वयं सक्रिय नहीं होता, बल्कि उसकी साकांक्ष्य (अर्थात् उसकी उपस्थिति और दृष्टा मात्र होने से) प्रकृति में विक्षोभ उत्पन्न हो जाता है। यह उसी प्रकार है जैसे चुम्बक के सन्निधि में लौहखण्ड स्वतः आकर्षित हो जाते हैं। इस उपमा को कपिल ने भी प्रयोग किया है कि पुरुष और प्रकृति का सम्बन्ध इसी प्रकार है।

गौडपाद ने सांख्यकारिका-17 के भाष्य में पुरुष के अधिष्ठातृत्व को सिद्ध किया है। भोज ने भी पुरुष के अधिष्ठान को स्वीकार किया है।

डॉ. सील का मत है कि जब पुरुष और प्रकृति का संयोग होता है तो साम्यावस्था में स्थित प्रकृति पूर्णरूप से विक्षुब्ध नहीं होती, बल्कि केवल विशाल संख्या वाले अंश ही साम्यावस्था से प्रच्युत होते हैं। किन्तु यह विचार सांख्य सिद्धान्त के अनुकूल नहीं है, क्योंकि यदि कुछ अंश विक्षुब्ध और कुछ अविक्षुब्ध मान लिए जाएँ, तो सृष्टि की श्रृंखलाबद्ध गति बाधित हो जाएगी। सांख्य मतानुसार जब गुणों की साम्यावस्था भंग होती है, तो विक्षोभ संपूर्ण होता है और उसी के परिणामस्वरूप विकास-प्रक्रिया आगे बढ़ती है।

विकास-प्रक्रिया के पश्चात जीवात्मा पुरुष सृष्टि के वैभिन्न्य में भटक जाता है। कपिल का कथन है कि इसका कारण अविवेक है।

अविवेक का अर्थ है—पुरुष और प्रकृति में अंतर को न पहचानना। इसी अविवेक के कारण जीवात्मा प्रकृति के साथ तादात्म्य मानकर बन्धन में फँस जाता है। जब उसे इस अविवेक का अनुभव होता है, तभी वह मोक्ष की लालसा करता है।

सांख्य मत में कहा गया है कि पुरुष और प्रकृति के सान्निध्य मात्र से विकास-प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। प्रकृति जब तक साम्यावस्था में रहती है, तब तक अव्यक्त कहलाती है। जैसे ही साम्य भंग होता है, गुणों का क्षोभ प्रारम्भ होता है और यही प्रकृति का नाश (अव्यक्त से व्यक्त होना) है। इसी प्रक्रिया को सांख्य ने दृष्टि-सृष्टि कहा है।

प्रकृति के विकास के परिणामस्वरूप 24 तत्त्व उत्पन्न होते हैं, और पुरुष के साथ मिलाकर इनकी संख्या 25 होती है। सांख्य दर्शन के अनुसार तत्त्व-क्रम इस प्रकार है—

(1) पुरुष (जीवात्मा तथा परमात्मा)

(2) प्रकृति (अव्यक्त)

(3) बुद्धि	(10) मन
(4) अहंकार	(11-15) पांच ज्ञानेन्द्रियाँ
(5-9) शब्द, स्पर्श, गन्ध, रूप और रस	(16-20) पांच कर्मेन्द्रियाँ की पांच तन्मात्राएं
	(21-24) पांच भूर्म तत्व अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश

यहाँ विकास से अभिप्राय है—अव्यक्त का व्यक्त होना। प्रकृति का मूल रूप अव्यक्त है। सृष्टि-प्रक्रिया में वही अव्यक्त रूप-रूप में प्रकट (व्यक्त) होता है। यही विकास-प्रक्रिया है, जो पुरुष के सान्निध्य से प्रारम्भ होती है।

सर आर.जी. भण्डारकर ने सांख्य की इस विकास-संबंधी प्रकल्पना का फिश्ते द्वारा किया गया स्पष्टिकरण स्वीकार किया है। इसका अर्थ है कि आधुनिक पाश्चात्य दार्शनिक दृष्टिकोण से भी सांख्य का विकास-क्रम तार्किक रूप से संगत और गहन माना जाता है।

(4) मुक्ति का संप्रत्तय साधन एवं मुक्तावस्था :- भारतीय दर्शन में मोक्ष की धारणा अत्यन्त केन्द्रीय है। केवल चार्वाक दर्शन को छोड़कर लगभग सभी दर्शनों ने मोक्ष को स्वीकार किया है। इसी कारण भारतीय चिन्तन परम्परा में दर्शन को 'मोक्षशास्त्र' अथवा 'मुक्ति का विज्ञान' कहा गया है। प्रख्यात आचार्य प्रो. हिरियन्ना के अनुसार - भले ही विभिन्न दार्शनिक तन्त्रों ने मोक्ष की भिन्न-भिन्न व्याख्या की हो, परन्तु सभी मानते हैं कि मोक्ष ही दार्शनिक चिन्तन की चरम परिणति है।

सांख्य दर्शन भी मोक्ष-प्रत्यय को पूणज़ रूप से स्वीकार करता है। वास्तव में उसका उद्भव ही त्रिविध दु:खों (आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक) की

निवृत्ति हेतु हुआ। सांख्य इसे ही 'परम निष्कर्ष' अथवा 'परम पुरुषार्थ' मानता है।

सांख्य के मत से सांसारिक जीवन मूलत: दु:ख, चिन्ता और आकांक्षाओं से भरा हुआ है। जीवात्म-पुरुष जब तक प्रकृति के व्यापारों में उलझा रहता है, तब तक उसे शान्ति नहीं मिल सकती। यही उलझन 'बंधन' कहलाती है।

सांख्य का मत स्पष्ट है कि परमात्म-पुरुष (शुद्ध पुरुष) तो स्वभावत: कभी बंधन और मोक्ष में पड़ता ही नहीं। बंधन और मोक्ष का विषय केवल जीवात्म-पुरुष के लिए सम्भव है, क्योंकि वही अविवेकवश प्रकृति से तादात्म्य कर लेता है।

अब प्रश्न उठता है कि जीवात्म-पुरुष प्रकृति के बंधन में कैसे आता है? महर्षि कपिल के अनुसार, प्रकृति निम्न रूपों द्वारा जीवात्मा को बाँधती है- धर्म और अधर्म, वैराग्य और अवैराग्य, ऐश्वर्य और अनैश्वर्य तथा अज्ञान।

इन बंधनों की जड़ है विवेक का अभाव। जब तक पुरुष और प्रकृति के बीच सही भेद-बुद्धि नहीं होती, तब तक जीवात्मा बंधनग्रस्त रहता है। जिस क्षण विवेक का उदय होता है, उसी क्षण बंधन मिट जाता है और पुरुष मुक्त हो जाता है। इसीलिए सांख्य के अनुसार मुक्ति का मुख्य साधन है- विवेक-ज्ञान (विवेकख्याति)।

मुक्तावस्था :- सांख्य में मुक्ति को परिभाषित किया गया है - 'आत्यन्तिक दु:खक्षय का नाम ही मोक्ष है।'' अर्थात् जब दु:ख का सम्पूर्ण नाश हो जाता है, तब वही अवस्था मुक्ति है।

सांख्य मोक्ष को ब्रह्मरूपता भी कहता है- **समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता**

यहाँ ब्रह्मरूपता का अर्थ अद्वैत वेदान्त की भाँति 'परमात्मा में लय' नहीं है। सांख्य अद्वैत का यह सिद्धान्त नहीं मानता कि जीव और परमात्मा मोक्षावस्था में एकाकार हो जाते हैं। उसका आशय यह है कि मुक्त जीवात्मा अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित हो जाता है, और वह परमात्म-पुरुष के समान हो जाता है, किन्तु उसमें विलीन नहीं होता।

सांख्य का विचार यह भी है कि जीवात्मा में अज्ञानीय वासनाओं के बीज शेष रहते हैं, जो कालान्तर में प्रकट होकर पुन: प्रकृति-बंधन की ओर ले जा सकते हैं। इसीलिए रचना और प्रलय की प्रक्रिया जगत् में निरन्तर चलती रहती है।

लोक में प्रचलित है कि ''देवदत्त का बल शेर के समान है।'' इसका अर्थ यह है कि देवदत्त ने बल के क्षेत्र में शेर के तुल्य साम्य प्राप्त कर लिया है, किन्तु वह शेर नहीं बन गया। इसी प्रकार मोक्षावस्था में जीवात्मा और परमात्मा परस्पर एकाकार नहीं होते, अपितु समानता की दशा में स्थित रहते हैं। महर्षि कपिल का मत है कि मोक्षावस्था में जीव और परमात्मा पृथक-पृथक रहते हुए भी गुणात्मक रूप से समरूपता प्राप्त कर लेते हैं।

सांख्य दर्शन के अनुसार मोक्षावस्था पूर्णतया आनन्दमय अवस्था है। वहाँ दु:ख

का नामोनिशान तक नहीं रहता। यही कारण है कि सांख्यसूत्र 5/117 में कपिल कहते हैं - समाधि और सुषुप्ति की अवस्था में दु:ख के बीज शेष रहते हैं, परन्तु मुक्ति में इनका आत्यन्तिक क्षय हो जाता है। अर्थात् समाधि या गहरी निद्रा में क्षणिक शान्ति तो मिलती है, किन्तु दु:ख का कारणरूप बीज बना रहता है। इसके विपरीत, मोक्ष में दु:ख का मूल कारण ही नष्ट हो जाता है।

सांख्य दर्शन वेदान्त की भाँति दो प्रकार की मुक्ति स्वीकार करता है-

(1) जीवन्मुक्ति :- जब जीवात्मा विवेक-ज्ञान द्वारा जीवन का संचालन करता है, तब वह त्रिगुणों से परे होकर त्रिविध दु:खों से मुक्त हो जाता है। इस अवस्था में व्यक्ति कमज़ से विमुख नहीं होता, अपितु पूर्वकृत प्रारब्ध कर्मों के निष्पादन में संलग्न रहता है। अन्तर केवल इतना है कि अब वह कर्मों से आसक्ति नहीं रखता।

वाचस्पति मिश्र ने इस स्थिति को बहुत सुन्दर दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट किया है। वे कहते हैं- जैसे क्लेशरूपी जल से सिक्त भूमि में कर्म-बीज अंकुरित होते हैं। किन्तु जब तत्वज्ञान रूपी तपन से क्लेशरूपी जल सूख जाता है, तो ऊसर भूमि में क्या कभी बीज अंकुरित हो सकते हैं? उसी प्रकार ज्ञानवान पुरुष के भीतर कर्मफल उत्पन्न नहीं हो पाते।

महर्षि कपिल ने भी कुलाल (कुम्हार) का दृष्टान्त देकर यह सिद्ध किया है कि विवेक-प्राप्त जीव भले ही शरीर से कर्म करता है, परन्तु उसका पुरुष स्वरूप असंग रहता है।

(2) विदेहमुक्ति :- जब शरीर का नाश हो जाता है, तब जीवात्मा आत्यन्तिक और ऐकान्तिक रूप से दु:खत्रय से मुक्त हो जाता है। इस दशा को ही विवेकमुक्ति कहा गया है। विज्ञानभिक्षु इसे ही वास्तविक मुक्ति मानते हैं, क्योंकि उनके अनुसार जब तक जीवात्मा शरीर में निवास करता है, तब तक शरीरधर्म से उसका पूर्णत: अप्रभावित रहना सम्भव नहीं। विदेहमुक्ति में संस्कार और वासनाएँ पूणज़ रूप से नष्ट हो जाती हैं।

साधन :- मनुष्य अपने जीवन में जब दु:खों की भयंकरता को गहराई से अनुभव करता है, तभी वह मुक्ति की ओर उन्मुख होता है। यह सत्य है कि मानव सभ्यता के प्रारम्भ से ही मोक्ष-प्राप्ति मानव-चिन्तन का एक केन्द्रीय विषय रहा है। तत्वविदों और मुमुक्षुओं ने सदैव मोक्ष-मार्ग की खोज की है और यह खोज आज तक निरन्तर चल रही है।

सांख्य दर्शन स्पष्टत: मानता है कि विवेक ही मोक्ष का परम साधन है। बिना विवेक के मुक्ति असम्भव है। यही कारण है कि उपनिषदों का वचन 'नान्य: पन्था विद्यतेऽयनाय' (इसके अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं है) यहाँ पूर्णत: चरितार्थ होता है।

अविवेक के कारण जीवात्मा दु:खजाल में फँसी रहती है। जब विवेक उदित होता है, तब वह अविद्या, काम और कर्मजन्य संसृति के बन्धनों को त्यागकर मोक्ष को प्राप्त होती है। देवीभागवत में भी कहा गया है - 'सदसद्-भेदबीजं ज्ञानं नानाविधं भवेत्' अर्थात् सत्य और असत्य का भेद करने वाला ज्ञान ही मुक्ति की आधारभूमि है।

प्रश्न उठता है कि यह विवेक कैसे उत्पन्न हो? महर्षि कपिल का उत्तर है - गुरु के मार्गदर्शन से। बिना गुरु की शरण के मुक्ति सम्भव नहीं है। मुमुक्षु को चाहिए कि वह ब्रह्मनिष्ठ गुरु की शरण में जाए। शास्त्रों में कहा गया है कि उस समय शिष्य को 'समित्पाणि' होना चाहिए अर्थात् पुष्प, कुशादि हाथ में लेकर श्रद्धापूर्वक गुरु के सम्मुख उपस्थित होना चाहिए।

विवेक-प्राप्ति के लिए साधक को अपने आचरण को शुद्ध और अनुशासित बनाना होता है। विषयों का त्याग उसे इस प्रकार करना चाहिए जैसे सर्प अपनी केंचुली छोड़ देता है। शौच, आचार और लोकनियमों का पालन करना अनिवार्य है। ज्ञान की प्राप्ति में सम्पूर्णता और एकाग्रता को अपनाना चाहिए।

सांख्य दर्शन, यद्यपि विशुद्ध ज्ञान-प्रधान है, फिर भी वह योग की भाँति ध्यान, धारणा, अभ्यास और वैराग्य को मुक्ति-साधन के रूप में स्वीकार करता है। कपिल ने उपनिषदों की परम्परा का अनुसरण करते हुए श्रवण, मनन और निदिध्यासन को भी मोक्ष हेतु आवश्यक माना है। इस प्रकार सांख्य केवल दार्शनिक विवेचन ही नहीं करता, बल्कि साधना-मार्ग को भी स्वीकार करता है।

सांख्य प्रतिपादित मोक्ष-साधन उपनिषदों द्वारा स्वीकृत साधनों से तनिक भी असंगत नहीं हैं। वास्तव में, जो साधन उपनिषद और गीता में बताए गए हैं- श्रवण, मनन, ध्यान, वैराग्य, साधन-चतुष्टय, वही सांख्य में भी परिलक्षित होते हैं। यहाँ तक कि आचार्य शंकर ने भी मोक्ष के लिए इन्हीं साधनों को ग्राह्य माना है।

अत: सांख्य दर्शन में मोक्ष-प्राप्ति का मुख्य साधन है - विवेकख्याति, अर्थात् पुरुष और प्रकृति का स्पष्ट भेद-ज्ञान। इस विवेक की प्राप्ति गुरु-शरण, विषय-त्याग, शुद्ध आचार-विचार, ध्यान-धारणा, वैराग्य तथा श्रवण-मनन आदि साधनों से सम्भव है। सांख्य दर्शन अपने इस मत से उपनिषदों और वेदान्त से साम्य रखता है तथा यही दर्शाता है कि भारतीय दर्शन की परम्परा में मोक्ष का मार्ग भले ही शब्दावली और दृष्टिकोण में भिन्न दिखाई दे, परन्तु साधनों की दृष्टि से वह सर्वत्र एक ही है।

❑❑❑